

Philosophy , MJ Paper I

Model questions with answers for FYUGP

Sem-I (2022-26)

कुछ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न एवं संक्षिप्त टिप्पणी ।

Some long Answer type question and short notes.

Long answer type question

प्रश्न:- महात्मा बुद्ध के चार आर्यसत्यों की व्याख्या करें।

Explain The four Noble Truth according to Buddhism (Mahatma Buddha)

महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्यसत्य भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बौद्ध दर्शन में उल्लेखित और वर्णित चार आर्यसत्य निम्नलिखित है:-

(i) संसार दुःखमय है (ii) दुःख-समुदय अर्थात् दुःख उत्पन्न होता है (iii) दुःख निरोध अर्थात् निर्वाण है (iv) दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् अर्थात् दुःख निरोध के लिए मार्ग है।

प्रथम आर्यसत्य:- बौद्ध दर्शन के अनुसार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सार जीवन ही दुःखमय है। मृत्यु भी दुःख का अन्त नहीं है क्योंकि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म है और जन्म के बाद मृत्यु है। इस प्रकार जन्म-मृत्यु-चक्र या भवचक्र चलता रहता है। यही बन्धन है जिसमें फस कर व्यक्ति दुःख भोगता रहता है। संसार के समस्त पदार्थ अनित्य और नश्वर होने के कारण दुःख रूप है। लौकिक सुख भी वस्तुतः दुःख से धिरा है। इस सुख को प्राप्त करने में (प्राप्त करने के प्रयास में) दुःख है, प्राप्त हो जाने पर यह नष्ट न हो जाय यह विचार दुःख देता है। लौकिक सुख के नष्ट हो जाने पर तो दुःख है ही। मानव के जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, रोग, जन्म जरा और मरण सब दुःख है। अप्रिय संयोग दुःख है, प्रिय वियोग दुःख है, इच्छा पूर्ण न होना, स्वार्थ, हिंसा, संघर्ष आदि सब दुःख है।

द्वितीय आर्यसत्य:- दुःख उत्पन्न होता है और जो उत्पन्न होता है उसे कार्य कहते हैं और प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण कोई कार्य नहीं हो सकता है। दुःख के भी कारण है और यहां कारण-कार्य की लम्बी श्रृंखला है जिसे द्वादशाङ्ग-चक्र या प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र कहा गया है। ये द्वादश अंग निम्नलिखित है-

(i) अविधा अर्थात् तत्त्व को उसके असली रूप में न दिखाकर विकृत रूप में दिखाना (ii) संस्कार (कर्म-संस्कार) (iii) विज्ञान (सीमित, सापेक्ष, सविकल्प विज्ञान) (iv) नाम-रूप अर्थात् मानसिक भावों तथा भौतिक पदार्थों के संघात से बना हुआ यह शरीर (v) षडायतन अर्थात् पांच बाह्य इन्द्रियाँ और एक मन (vi) स्पर्श अर्थात् विज्ञान से अनुप्राणित इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क (vii) वेदना अर्थात् इन्द्रिय सम्वेदन या इन्द्रिय अनुभव (viii) तृष्णा अर्थात् इन्द्रिय सुख एवं उपभोग की तीव्र इच्छा (ix) उपादान अर्थात् विषय सुख और

भोगों से बुरी तरह चिपकना (x) भव अर्थात् कर्म फल भोगने के लिए जन्म लेने का संकल्प (xi) जाति अर्थात् पुनर्जन्म के साथ जन्म (xii) जरा-मरण (वृद्धावस्था-मृत्यु का दुःख) बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम (कारण से कार्य का) वर्णन है जिसमें हम अविधा से जरा-मरण तक आते हैं। इसके प्रतिलोम (कार्य से कारण का) निरूपण में हम जरा-मरण से अविधा तक पहुँचते हैं।

तृतीय आर्यसत्यः- दुःख-निरोध अर्थात् दुःख के कारणों का निरोध अर्थात् समाप्ति। अविधा ही दुःखके संस्कार चक्र के मूल कारण है। अतः अविधा-निवृत्ति ही निर्वाण है। बौद्ध दर्शन के अनुसार मूल अविधा का अलग करना है नाश केवल मौलिक निर्विकल्प निरपेक्ष अपरोक्षानुभूति द्वारा ही सम्भव है जिसे बोधि या प्रज्ञा-पारमिता कहा गया है। यही निरपेक्ष तत्व निर्वाण है जो नित्य शुद्ध चैतन्य या विज्ञान रूप है। अविधा के नाश से उससे चलने वाला द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र भी नहीं चलता। यहां तृष्णा का भी पूर्ण क्षय हो जाता है। निर्वाण को अमृत पद कहा गया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण शब्द का अर्थ है बुझना जैसे तेल के क्षय से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही अविधा और क्लेश के क्षय से धीरे धीरे पुरुष निर्वाण प्राप्त करते हैं। बुद्ध के अनुसार क्षय अविधा और उसके कार्यों का होता है, निर्वाण या मुक्ति का नहीं। आत्मा और निर्वाण दोनों ही उपशान्त हैं दोनों में ही अविधा की आत्यान्तिक निवृत्ति है। निर्वाण का साधन श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी प्रज्ञा है, निर्वाण धर्मों की धर्मता है, निर्वाण सब धर्मों में व्याप्त है और सब धर्मों से परे भी है। बुद्ध ने निर्वाण को अच्युत, अमृत, परमसुख, शान्त, दुर्लभ आदि पदों से व्यक्त किया है।

चतुर्थ आर्यसत्यः- बुद्ध ने दुःख निरोध के लिए मार्ग बतलाये हैं। यह नैतिक और आध्यात्मिक साधना का मार्ग है जो भारतीय दर्शन में बुद्ध का आष्टांगिक मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है।

चतुर्थ आर्यसत्य में वर्णित निर्वाण प्राप्ति के आठ अंग इस प्रकार हैं:-

- (i) सम्यक् दृष्टि अर्थात् बुद्ध-वचनों में श्रद्धा और उनके आर्य सत्यों का ज्ञान।
- (ii) सम्यक् संकल्पः- बुद्ध द्वारा बताए गये आर्य मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय है।
- (iii) सम्यक् वाकः- यह वाणी की सत्यता और पवित्रता है।
- (iv) सम्यक् कर्मान्तः- यह हिंसा, द्वेष और बुरे आचरण का त्याग तथा नैतिक या सत्कर्मों का आचरण है।

- (v) सम्यक् आजीवः- यह सही नैतिक और न्याय पूर्ण जीविकोपार्जन है।
- (vi) सम्यक व्यायामः- यह शुभ की उत्पत्ति और अशुभ के निरोध हेतु सतत प्रयत्न है।
- (vii) सम्यक स्मृतिः- यह शारीरिक तथा मानस भोग्य वस्तुओं एवं काम, मोह, लोभ आदि भावों की अनित्यता और अशुचिता की निरन्तर भावना एवं चित्र की एकाग्रता है।
- (viii) सम्यक समाधिः- यह चित्त की एकाग्रता द्वारा निर्विकल्प प्रज्ञा की अनुभूति है।

महात्मा बुद्ध ने दुःख निरोध के अष्टांगिक मार्ग को 'मध्यमा प्रतिपद्' या मध्यम मार्ग की संज्ञा दी है। यह भोगविलास और शरीर को अत्यन्त क्षीण करने वाली कठोर तपस्या के बीच का मार्ग है। उनके अनुसार काम सुखों में आसक्ति और आत्म पीड़ा में आसक्ति दोनों ही अन्तों को छोड़कर तथागत ने मध्यम मार्ग का साक्षात्कार किया है। बौद्धों ने त्रिरत्न शील, समाधि और प्रज्ञा को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बताया है। शील का अर्थ है सत्कर्मों का करना और असत्कर्मों से बचना। अहिंसा, अस्तेय, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का पालन और मदिरा आदि नशीली वस्तुओं का त्याग, ये बौद्धों के पंचशील हैं। भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों का भी विधान है ये हैं असमय भोजन, माला-धारण, संगित, नृत्य आदि और सुखद शैया का त्याग। समाधि चार माने गये हैं जो चार प्रकार के ध्यान हैं। प्रथम सवितर्क, दुसरा वितर्क (विचार की शांति), तीसरा प्रीति और विराग की उपेक्षा, चौथा सुख-दुःख का त्याग। प्रज्ञा श्रुतमयी (बुद्ध वाक्य जन्य निश्चय) चिन्तामयी (बौद्धिक चिन्तन से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी अर्थात् समाधि।

रामानुजाचार्य का 'सगुण ब्रह्म' का विचार (सिद्धान्त)

प्रश्न:- रामानुज के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करें।

Explain The nature of Brahman according to Ramanuja.

रामानुज चिदचिद विशिष्ट ब्रह्म या ईश्वर को अर्थात् सगुण ब्रह्म को मूल सत्ता मानते हैं। वे कहते हैं चित्, अचित और ईश्वर इन तीनों तत्वों (तत्त्व-त्रय) की सत्ता है। चित् चेतन भोक्ता जीव है। अचित जड़ भोग्य जगत है। ईश्वर दोनों का अन्तर्यामी है। चित और अचित दोनों नित्य और परस्पर स्वतंत्र द्रव्य हैं। किन्तु दोनों सगुण ब्रह्म या ईश्वर पर आश्रित हैं और सर्वथा उनके अधीन हैं। दोनों स्वयं में द्रव्य हैं, किन्तु ईश्वर के गुण या धर्म हैं। चित और अचित दोनों ईश्वर के शरीर हैं, ईश्वर उनका अन्तर्यामी आत्मा है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपृथक् सिद्ध है। यही सम्बन्ध द्रव्य और गुण में अंगी और अंग में होता है। यह संबंध एक स्वतंत्र द्रव्य तथा उस पर आश्रित अन्य द्रव्य में भी होता है। रामानुजाचार्य शरीर और आत्मा के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शरीर वह है जो आत्मा द्वारा धारण किया जाय (धार्य), नियमन किया जाये (नियाम्य) और अपनी अर्थसिद्धि के लिए साधन के रूप में प्रवृत्त किया जाये (शेष) तथा आत्मा वह है जो शरीर को धारण करे (धर्ता), नियमन करे (नियन्ता) और जो साधन रूप में प्रवृत्त होने वाले शरीर का साध्य हो (शेषी)। इस प्रकार रामानुज चित् और अचित को ईश्वर के विशेषण, धर्म, गुण, प्रकार, अंश, अंग, शरीर, नियाम्य, धार्य और शेष मानते हैं। वे कहते हैं चित् और अचित दोनों ईश्वर के समान नित्य तत्व हैं, किन्तु ईश्वर से ब्रह्म और पृथक् नहीं हैं। साथ ही साथ रामानुज यह भी मानते हैं ईश्वर में सजातीय और विजातीय भेद नहीं है क्योंकि ईश्वर के समान या भिन्न कोई अन्य स्वतंत्र तत्व नहीं है। लेकिन ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान है क्योंकि उनका शरीर नित्य एवं परस्पर भिन्न चित् और अचित् तत्वों से निर्मित है। चित और अचित से ईश्वर का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है।

रामानुज वृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप अर्थात् ब्रह्म 'सुत्र' है जो सब जीवों और पदार्थों को आबद्ध किये हैं से बहुत प्रभावित है। यहां भी जीव और जगत को सत्य माना गया है। परमात्मा उनका भी सत्य है- वह सत्त्यों का सत्य है। रामानुजाचार्य ने सगुण ब्रह्म या ईश्वर के स्वरूप निरूपण किए हैं उसमें तीन बिन्दु मुख्य हैं। सर्वप्रथम उनके अनुसार ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं। ईश्वर सविशेष सगुण है तथा चित्-अचित् विशिष्ट है। ईश्वर चित्-अचित् रूप इस विश्व का अन्तर्यामी आत्मा है तथा इस सकल जगत की उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण भी है।

ईश्वर जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनों है। चित या जीव एवं अचित् या जड़ तत्व दोनों नित्य पदार्थ है तथा नित्य होने के कारण उत्पत्ति-विनाश रहित है। अतः सृष्टि का तात्पर्य इनके स्थूल रूप धारण करने से है और प्रलय का तात्पर्य इनके सूक्ष्म रूप में चले जाने से है। प्रलय काल में चित् और अचित् अपनी सूक्ष्मावस्था में रहते हैं, यह ब्रह्म की कारणावस्था है। सृष्टि के समय चिदचित् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं यह ब्रह्म की कार्यावस्था है। ब्रह्म ही कारण और कार्य दोनों रूपों में जगत का उपादान है। सृष्टि ईश्वर की इच्छा से होती है। इसका प्रयोजन केवल लीला है। रामानुज के सगुण ब्रह्म के दुसरा बिन्दु है कि ईश्वर चित्-अचित् रूप विश्व का अन्तर्यामी आत्मा है और यह विश्व उसका शरीर है। तीसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है कि ईश्वर में व्यक्तित्व की पूर्णता है। उसका शरीर अजड़ और अप्राकृत शुद्ध सत्त्व से निर्मित है। बन्धन का कारण कर्म है, अतः कर्मजन्य प्राकृत देह बन्धन रूप है। अप्राकृत देह बन्धन रूप नहीं है। ईश्वर हेयगुण रहित और अशेष कल्याण गुण सागर है। ईश्वर नारायण या वासुदेव है। लक्ष्मी उनकी पत्नी है। शुद्ध सत्त्व निर्मित वैकुण्ठ उनका निवास है। वे सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और करुणा सागर है। ईश्वर का दिव्य गुण नित्य, शुद्ध और अनन्त है। उनका ज्ञान, आनन्द, प्रेम ऐश्वर्य, बल, शक्ति, कृपा आदि है। ईश्वर एक है, किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वयं अपने आपको पाँच रूपों में प्रकट करते हैं- अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार। चित्-अचित् रूप विश्व में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में व्याप्त रहकर उसका नियमन करना ईश्वर का अन्तर्यामी रूप है। उसका दुसरा रूप है जिसमें वे परात्पर या वासुदेव के रूप में व्यक्त होते हैं। ईश्वर का तीसरा रूप 'व्यूह' है जिसमें वे चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट होते हैं। ये चार व्यूह हैं- वासुदेव या भगवत तत्व, संकर्षण (जीव तत्व या बुद्धितत्व के नियन्ता), प्रधुम्न (मनस्तत्व के नियन्ता) और अनिरुद्ध (अहंकार तत्व के नियन्ता)। ईश्वर का चौथा रूप विभव या अवतार है। ईश्वर का पाँचवा रूप 'अर्चावतार' है जिसमें भक्तों पर असीम कृपा के कारण श्रीरंगम आदि के प्रसिद्ध मन्दिरों की मूर्तियों के रूप में प्रकट होते हैं।

रामानुज के अनुसार जीव की सार्थकता ईश्वर के शुद्ध अविभाज्य अंग बनकर ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द का अनुभव करने में है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत सगुण ब्रह्म की प्रमुख विशेषता यह है कि उनके अनुसार भेद और अभेद अपृथक है एवं वे अलग-अलग नहीं हो सकते हैं। अभेद मुख्य है और भेद गौण है। भेद सदा अभेद का विशेषण बनकर ही रहता है। अभेद स्वतंत्र है और भेद उसपर आश्रित है। अद्वैत विशेष्य है जो सदा द्वैतविशेषण (चित् और अचित्) से विशिष्ट रहता है। यह अद्वैत ईश्वर या ब्रह्म है।

रामानुज का ब्रह्म हेगेल (प्रशिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक) के परमसत के समान द्वैत विशिष्ट अद्वैत बताया गया है। वह प्रिंगल पेटीसन के ईश्वर के समान दिव्य व्यक्तित्व सम्पन्न पुरुषोत्तम भी है। रामानुज ने अपने सगुण ब्रह्म विचार में दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक भावना, उपनिषद के ज्ञान और आलवार सन्तों की भक्ति का सुन्दर समन्वय किया है। उन्होंने उपनिषद के सगुण ब्रह्मवाद और पाश्चरात्र वैष्णव धार्मिक सम्प्रदाय में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। रामानुजाचार्य के लिए वेदान्त के प्रस्थान-त्रय के अतिरिक्त वैष्णव पुराण पाश्चरात्र, आगम और तमिल प्रबन्धम भी शास्त्र थे। इसलिए रामानुजाचार्य का संगुण ब्रह्म का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन ।

प्रश्न- रामानुजाचार्य किस प्रकार शंकर के मायावाद का खण्डन करते हैं ?

मायावाद- खण्डन और उसका मूल्यांकन:- शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में माया या अविधा की जो व्याख्या की गई है, जो शंकराचार्य का मायावाद का सिद्धान्त कहलाता है। शंकर के मायावाद के सिद्धान्त का खण्डन रामानुजाचार्य ने किया है। रामानुज के अनुसार माया ईश्वर की सत्य शक्ति है जिससे वे इस सत्य सृष्टि का निर्माण करते हैं। वे कहते हैं अविधा जीव का अज्ञान है जिसके कारण वह शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि प्राकृत वस्तुओं को अपना स्वरूप समझने लगता है। शंकर के अद्वैत वेदान्त दर्शन के मायावाद या अविधावाद का खण्डन करते हुए रामानुजाचार्य ने उसमें सात प्रमुख दोष बताये हैं जिन्हें सप्त अनुपपत्ति कहा जाता है। रामानुज जिन सप्त अनुपपत्ति अर्थात् सात दोषों के कारण मायावाद को असिद्ध बतलाते हैं वे उनके अनुसार निम्नलिखित हैं:-

1. **आश्रयानुपपत्ति:-** रामानुज कहते हैं कि माया या अविधा का आश्रय क्या है? वह कहां रहती है? रामानुज कहते हैं यदि माया को ब्रह्म पर आश्रित माना जाए तो यहां माया और ब्रह्म दो तत्व हो जायेंगे और अद्वैत का खण्डन हो जाएगा। ब्रह्म शुद्ध स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप है और माया या अविधा अज्ञान है। शुद्ध ज्ञान अज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है? अविधा का आश्रय जीव भी नहीं हो सकता क्योंकि जीव स्वयं अविधा-जन्य है। कारण अपने कार्य पर कैसे आश्रित हो सकता है। अतः अविधा का आश्रय न तो ब्रह्म है और न जीव। इस आधार पर रामानुज कहते हैं शंकर का अद्वैत वेदान्त दर्शन माया या अविधा का आश्रय को तर्कसंगत रूप से सिद्ध नहीं कर पाते, वह केवल उनके कल्पना में निवास करती है।
2. **तिरोधानुपपत्ति:-** इसमें रामानुज कहते हैं अविधा ब्रह्म को तिरोहित या आवृत कैसे कर सकती है? ब्रह्म शुद्ध स्वप्रकाश ज्ञान है। उसे अज्ञान कैसे आवृत कर सकता है? शुद्ध नित्य चैतन्य पर अज्ञान का आवरण किस प्रकार पड़ सकता है। अतः या तो ब्रह्म शुद्ध चैतन्य नहीं है, या अज्ञान उसे आवृत नहीं कर सकता।
3. **स्वरूपानुपपत्ति:-** अविधा का स्वरूप क्या है? यह सत् है या असत् है या सदसत् है या अनुभय है। यदि सत् है तो अविधा कैसे हो सकती है क्योंकि विधा के अभाव को ही अविधा कहा जाता है। इसके साथ ही यदि अविधा सत् या भाव रूप है तो स्वयं तत्व हो जायेगी, फिर अद्वैतवाद को क्षति हो जाएगी। अद्वैती स्वयं मानते हैं कि अविधा ज्ञान से नष्ट हो जाती है। अतः वह सत् या भाव रूप नहीं हो सकती है। यदि अविधा

असत् या अभावात्मक हो तो इस जगत-प्रपञ्च का ब्रह्म पर आरोप नहीं कर सकती। इसी प्रकार अविधा सदसत् या भावा भावरूप नहीं हो सकती क्योंकि सत् और असत् प्रकाश और अन्धकार के समान, एक साथ नहीं रह सकते। उसी प्रकार अविधा को अनुभय मानना स्वव्याधाती है। इस प्रकार रामानुज कहते हैं कि अद्वैत वेदान्त में अविधा का स्वरूप का स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलता।

4. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्तिः- अद्वैत वेदान्त में माया या अविधा को सद-सदनिर्वचनीय माना गया है। रामानुज के अनुसार यह विचार सर्वथा असंगत है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु या तो सत् होती है या असत् कोई भी वस्तु सदसद निर्वचनीय या सदसद् विलक्षण नहीं होती। यह तर्कशास्त्र के नियमों को तिलांजलि देना है। सत् और असत् अत्यन्त विरुद्ध है, और दोनों मिलकर व्यापक है क्योंकि तृतीय विकल्प के लिए स्थान नहीं छोड़ते। अतः अविधा को सदसद् निर्वचनीय मानना विरोध युक्त कल्पना है।
5. प्रमाणानुपपत्तिः- अविधा को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष से भाव या अभाव की सिद्धि हो सकती है जबकि अविधा को भावा भाव विलक्षण माना गया है। अनुमान से भी यह सिद्ध नहीं है क्योंकि इसके लिए कोई हेतु नहीं है। आगाम से भी यह सिद्ध नहीं है क्योंकि शास्त्र माया को ईश्वर की सत्य शक्ति बताते हैं।
6. निर्वर्तकानुपपत्तिः- अविधा का कोई भी निर्वर्तक या विनाशक नहीं है। अद्वैत वेदान्त में निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान को अविधा का निर्वर्तक माना गया है। किन्तु ब्रह्म निर्विशेष नहीं है और न किसी निर्विशेष वस्तु का ज्ञान सम्भव है। ज्ञान सदा सविशेष वस्तु का ही होता है। अतः निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान के अभाव में अविधा के निर्वर्तक का भी अभाव है।
7. निवृत्त्यनुपपत्तिः- अविधा की निवृत्ति भी सिद्ध नहीं होती। अद्वैत वेदान्त में अविधा की निवृत्ति ज्ञान से माना गया है। लेकिन जीव का बन्धन कर्मजन्य है। वह कर्म, ज्ञान, भक्ति और भगवदनुग्रह से नष्ट हो सकता है। केवल ज्ञान मात्र से नष्ट नहीं हो सकता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों का कहना है कि रामानुज माया या अविधा का अर्थ नहीं समझ पाए और वे इसे वस्तु समझ रहे हैं। इसे सद्वस्तु मानते हुए रामानुज माया या अविधा के लिए आश्रय या प्रमाण चाहते हैं। अद्वैत वेदान्त का कहना है ब्रह्म अविधा का अधिष्ठापन है लेकिन उससे लेश मात्र भी कलुषित नहीं है जैसे रज्जु सर्प से किसी भी प्रकार प्रभावित तथा सम्बद्ध नहीं होता। अविधा ब्रह्म को वस्तुतः आवृत नहीं कर सकता। आवरण हमारी दृष्टि पर पड़ता है, सूर्य पर नहीं। अद्वैत

वेदान्त भी माया या अविधा को विरुद्ध मानते है लेकिन वे कहते है इसके विरोध का ज्ञान ब्रह्म ज्ञान से ही सम्भव है,इसके पूर्व नहीं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत् और असत् को उनके आत्यन्तिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। सत् का अर्थ त्रिकालाबाध अर्थात् सत् और असत् का अर्थ त्रिकाल में असत् है। अतः ये दोनों न तो परस्पर विरुद्ध है और न व्यापक है क्योंकि इनके बीच में तृतीय विकल्प सापेक्ष सत् या सदसद-निर्वचनीय बना हुआ है। हमारा समस्त लौकिक अनुभव सदसद निर्वचनीय या मिथ्या ही है। इससे तर्कशास्त्र के नियमों का उलंघन नहीं होता। अविधा अध्यास है अतः अधिष्ठान का ज्ञान ही उनका निवर्तक है। ब्रह्म ज्ञान ही उसका निवर्तक है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर विचार

state and examine the Nyaya argument's for the existence of God.

आस्तिक दर्शन में न्याय दर्शन जिसका प्रमाण मीमांसा अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण है। इस दर्शन में ईश्वर की प्रामाणिकता श्रद्धा एवं विश्वास के स्थान पर तर्क के ही द्वारा सिद्ध किया गया है। न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम ने अपने न्याय सूत्र में ईश्वर का संक्षिप्त रूप से ही विचार किया है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है। लेकिन प्रशस्तपाद एवं बाद के व्याख्याकारों द्वारा किये गए ईश्वर के सन्दर्भ में बहुत ही विस्तार से चर्चा के आधार पर अधिकांश दर्शन महर्षि कणाद को ईश्वरवादी मानते हैं। शंकराचार्य ने भी कणाद को ईश्वरवादी ही माना है।

न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार ईश्वर नित्य सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, धर्म व्यवस्थापक कर्म फलदाता तथा सृष्टि का रचयिता है। वह विश्वकर्मा है। परमाणु जो सृष्टि के पूर्व निष्क्रिय रहते हैं उन्हें वह सक्रिय करके सृष्टि उत्पत्ति में प्रवृत्त कराता है। अतः वह संसार के सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह सर्वज्ञ एवं पूर्ण है। उसमें षडैश्वर्य-अधिपत, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य पूर्ण और अखण्ड रूप में विद्यमान है। वह नित्यमुक्त स्वतंत्र निराधार तथा परमात्मा है। वात्सयायन ईश्वर में अर्धम् मिथ्या, ज्ञान और प्रमाण का अत्यन्ताभाव मानते हैं। उद्योतकर के अनुसार ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, सत्य-संकल्प, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप, दयालु, न्यायकारी सृष्टि के उत्पत्ति पालन और संहार का हेतु है। नैयायिक आगम प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता तो सिद्ध करते ही हैं परन्तु क्योंकि आगम प्रमाणों पर सभी की आस्था नहीं है अतः वे अनुमान की सहायता से तार्किक प्रमाण भी देते हैं। उद्ययन ने न्याय कुसुमांजलि में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण दिए हैं:-

“कार्यायोजन धत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात् संख्या विशेषाध्य साहयो विश्वविद्वयः॥

1. **कार्यात्:-** जगत एक सावयव एवं भावात्मक कार्य है। प्रत्येक भावात्मक कार्य की उत्पत्ति निमित्त-कारण से होती है। यह निमित्त कारण चेतन ईश्वर है। श्रुति में भी उल्लेख किया गया है कि आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला तथा उसका रक्षक एक देव अवश्य है।
2. **आयोजनातः:-** सर्ग से पूर्ण परमाणु निष्क्रिय रहते हैं। सृष्टि के लिए परमाणुओं का संयोग एवं उनका सक्रिय होना आवश्यक है। सर्वशक्तिमान ईश्वर ही यह कर सकता है।

3. **धृत्यादेः-** जगत का कोई धारण करने वाला एवं संहारक होना चाहिए। ईश्वर के ही संकल्प से संसार की उत्पत्ति एवं संहार होता है।
4. **पदात्:-** संसार में अनेक कला कौशल है। सृष्टि के प्रारम्भ में जीव इनसे अनभिज्ञ थे। सर्वज्ञ ईश्वर ही इन विविध कलाओं तथा व्यवहारों की शिक्षा देता है। अन्यथा जीवन यात्रा अवरुद्ध हो जाती है। ईश्वर प्रथम शिक्षक है। इसीलिए उसे “ गुरुणां गुरुः” भी कहा जाता है।
5. **श्रुतेः-** श्रुति (वेद) ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती है।
6. **प्रत्यतः-** प्रत्यय का अर्थ है प्रामाण्य। वेद में प्रामाण्य का कारण सर्वज्ञ ईश्वर है।
7. **वाक्यात्:-** वेद वाक्य अपौरुषेय है। इनसे अतिन्द्रिय सत्ता एवं वस्तुओं का प्रतिपादन होता है। अतः वेदों के रचियता सर्वज्ञादि गुणों से युक्त ईश्वर है।
8. **संख्या विशेषः-** दो परमाणुओं से द्वित्वसंख्या विशिष्ट द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के समय आत्माएं अणु, अदृष्ट, दिक् काल, मन आदि सभी अचेतन रहते हैं। अतः इनकी संख्या ईश्वर को ही ज्ञात रहती है और उसी से सृष्टि होती है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है।
9. **अदृष्टः-** अद्यन ने ईश्वर की अस्तित्व की सिद्धि के लिए ‘अदृष्ट’ को भी एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। मनुष्य अपने कर्मानुसार फल भोगता है। कर्म एवं फल के बीच कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। कर्मों से होने वाले पाप-पुण्य के पुंज को ‘अदृष्ट’ कहा जाता है इसको भी एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु अदृष्ट अचेतन है, इसलिए वह अपने आप जागृत नहीं हो सकता। अतः इसके अनुसार सृष्टि की रचना करने तथा जीवों को भोग के लिए उनके अदृष्टानुसार फल देने वाला कोई चेतन तत्व अवश्य होना चाहिए। और वह ईश्वर है।

आलोचनाः- तीसरी और चौथी युक्ति में “अन्योन्याश्रय दोष माना जाता है क्योंकि अस्तित्व की दृष्टि से वेद ईश्वर पर निर्भर है और ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर वेद पर निर्भर है। लेकिन न्याय दर्शन के अनुसार यह कहना गलत है कि दोनों की सत्ता एक-दूसरे पर निर्भर है। वेद की सत्ता ईश्वर पर निर्भर है और ईश्वर का ज्ञान वेद पर, न कि सत्ता पर। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। ईश्वर का ज्ञान केवल वेद से ही नहीं होता। न्याय दर्शन द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिए गए तर्कके विरुद्ध आक्षेप पूर्ण है तो सृष्टिकर्ता ईश्वर सशरीर होना चाहिए। यदि ईश्वर सृष्टि रचना में जीवों के अदृष्ट तथा परमाणुओं की संख्या पर निर्भर है तो उसकी स्वतंत्रता एवं सर्वशक्तिमत्ता निरर्थक हो जाती है।

विवर्तवाद (शंकराचार्य)

प्रश्न:- शंकर के कारणता सिद्धान्त के रूप में विवर्तवाद की व्याख्या करें।

शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत कारण-कार्य का सिद्धान्त ब्रह्म विवर्तवाद कहलाता है। शंकराचार्य सर्वप्रथम सांख्य दर्शन के प्रकृति परिणामवाद की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार कार्य को कारण का परिणाम मानना अनुचित है। चूँकि कार्य का आकार कारण में अंतर्भूत नहीं होता अतः कार्य की निमित्त का अर्थ होगा असत् से सत् का निकलना किन्तु इससे तो सत्कार्यवाद का खण्डन होता है। शंकर का कहना है कि अचेतन प्रकृति को जगत का कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि अचेतन प्रकृति जगत की रचना नहीं कर सकती। सृष्टि के लिए आवश्यक मूल प्रवृत्ति अर्थात् गुण साम्यावस्था की गुण वैषम्यावस्था में परिणति बिना चेतन तत्त्व के सहयोग के नहीं हो सकता। सांख्य दर्शन सृष्टि को प्रयोजन मूलक मानता है। प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सृष्टि करती है। किन्तु जड़ और अचेतन प्रकृति यह प्रयोजन कैसे सिद्ध कर सकती है। इस तरह से शंकराचार्य सांख्य दर्शन के प्रकृति परिणामवाद का खण्डन करते हैं। शंकर वैशेषिक दर्शन के परमाणु कारणवाद का भी खण्डन करते हैं। उनके अनुसार परमाणु जगत का कारण नहीं हो सकते। परमाणु यदि चल है तो सृष्टि शाश्वत हो जायेगी, यदि स्थिर है तो सृष्टि होगी ही नहीं। शंकराचार्य रामानुज के ब्रह्म परिणामवाद की भी आलोचना करते हैं। यदि जगत ब्रह्म का परिणाम हुआ तब तो ब्रह्म को परिवर्तनशील होना होगा किन्तु तब वह यथार्थ नहीं रह जायेगा क्योंकि सत् का लक्षण ही है जो तीनों कालों में अबाधित हो। शंकर यह भी कहते हैं कि ब्रह्म यथार्थ है वह इस अर्थार्थ जगत में रूपांतरित होगा तो यह सत् से असत् में गमन होगा। इस प्रकार शंकर ब्रह्म परिणामवाद को भी कमजोर बताते हैं।

शंकर के अनुसार यह जगत केवल व्यवहारिक सत्ता रखता है। पारमार्थिक रूप से एकमात्र ब्रह्म सत्य है और यह जगत ब्रह्म में विवर्तित हो रहा है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प का हमें अज्ञानवस आभास होता है और हम उससे भयभीत होते हैं। जैसे सीप में चांदी का आभास होता है और हम उसे उठाने के लिए ललायित हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में विवर्तित यह जगत हमें मोहित करता है। यहां कारण तो सत् है इसलिए यह भी सत्कार्यवादी सिद्धान्त कहा गया है किन्तु कार्य अर्थात् जगत यहाँ मिथ्या है, विवर्त है, इसलिए इसे विवर्तवाद कहा गया। यहां उल्लेखनीय है कि विवर्तवाद शंकर के दर्शन का मुख्य बिन्दु है क्योंकि इसी के आधार पर शंकर मायावाद और जगत के मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रस्तुत कर अपने अद्वैतवाद को पुष्ट करते हैं। शंकर के विवर्तवाद के सिद्धान्त में मायावाद का

बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। शंकर के अनुसार माया दो रूपों में अपना कार्य करती है। आवरण और विक्षेप। आवरण के द्वारा वह ब्रह्म पर अज्ञान का परदा डालकर उसे छिपा देती है। विक्षेप शक्ति के द्वारा वह ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत को प्रस्तुत करती है।

शंकराचार्य अपने कारणता सिद्धान्त विवर्तवादसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं।

1. कारण-परिणाम में बदलता नहीं है जैसा कि सांख्य के सत्कार्यवाद में बदलता है। कारण अपने निज स्वरूप में जैसा था वैसा ही बने रहता है।
2. शंकर के दर्शन में कारण सत्य है जबकि कार्य विवर्त होने के कारण भ्रामक है। वह केवल व्यवहारिक सत्यता रखता है। ब्रह्म परमसत् है जबकि जगत केवल व्यवहारिक सत्यता रखता है। इस प्रकार सांख्य के सत्कार्यवाद में कार्य और कारण दोनों ही समान रूप से सत्य है। ब्रह्म परिणामवाद में भी कारण और कार्य अर्थात् ब्रह्म और जगत दोनों सत्य है। लेकिन शंकर के विवर्तवाद में ऐसा नहीं है।
3. कारण का ज्ञान होने पर कार्य की सत्ता की भ्रामकता स्पष्ट हो जाती है। शंकर के अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर जगत हमारे लिए ही भ्रामक हो जाता है जैसे कि रस्सी की वास्तविकता का ज्ञान होने पर साँप हमारे लिए भ्रामक हो जाता है और तब वह हमारे लिए सुख-दुख जैसे द्वन्द्वों का कारण नहीं रह जाता है। शंकर के दर्शन में वह ज्ञान मुक्ति का हेतु है।
4. शंकर के अनुसार कारण का कार्य के रूप में परिवर्तन अत्तात्त्विक या प्रातीत्तिक है। विवर्तवाद के इस मत को शून्यवाद, मूल-विज्ञानवाद और अद्वैत वेदान्त समर्थन करते हैं। शून्यतावाद का सिद्धान्त शून्यता-विवर्तवाद है, मूल विज्ञानवाद विज्ञान विवर्तवाद को मानते हैं और शंकर का सिद्धान्त ब्रह्म विवर्तवाद कहलाता है। शंकराचार्य के पूर्व के दार्शनिक साहित्य में परिवर्तन अन्यथाभाव, परिणाम और विवर्त शब्दों का प्रयोग पर्यायों के रूप में कर दिया जाता था तथा शंकर के बाद से ही परिणाम और विवर्त शब्द अपने परिभाषित अर्थ में प्रयोग में आया है।

अद्वैत वेदान्त

प्रश्न:- शंकर के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करें।

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त दर्शन में एक मात्र ब्रह्म को परमसत् मानते हैं जो अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अद्वैत एवं देश-काल से परे सत्ता है। यही समस्त जगत का आधार है। साथ ही यह सर्वोच्च ज्ञान भी है। इसके ज्ञान से ही हमारा अज्ञान नष्ट होता है। ब्रह्म शब्द 'वृह' धातु से बना है, जिसका अर्थ है- बढ़ना या विस्तार को प्राप्त होना। परमतत्त्व को इसलिए ब्रह्म कहा गया है क्योंकि यह सर्वाधिक विस्तृत अर्थात् सबसे महान सत्ता है। वह सर्वत्र व्याप्त है। उपनिषद् में कहा गया है न तु तदं द्वितीयं अस्ति' अर्थात् उसका कोई द्वितीय नहीं है। तथा नेह नानसित किंचन अर्थात् यहाँ अनेकता नहीं है। इसी अर्थ में शंकर भी ब्रह्म को अद्वैत मानते हैं। जीव में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्म रूप से इस समस्त ब्रह्म जगत में भी व्याप्त है। शंकर ब्रह्म को ही आत्मा भी कहते हैं जो समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है, यह स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाश है। शुद्ध आत्म चैतन्य अविधा के कारण शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से परिच्छिन्न होकर जीव के रूप में प्रतीत होता है। आत्मा तुरीय या शुद्ध चैतन्य। 'तुरीयावस्था में अविधा की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध अखण्डानन्द स्वरूप आत्म चैतन्य प्रकाशित होता है। उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है। अपर ब्रह्म को सगुण, सविशेष, सविकल्पक और सोपाधिक कहा गया है। इसी को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर समस्त विश्व के कर्ता, धर्ता नियन्ता और आराध्य है। पर ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष, निर्विकल्पक, निरूपाधिक, अनविचनीय और अपरोक्षानुभूति गम्य है।

शंकराचार्य भी ब्रह्म के उपर्युक्त दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार ये दोनों रूप समान रूप से वास्तविक नहीं हैं। वास्तव में तो निर्गुण, निराकार ब्रह्म ही सत्य है। यह पारमार्थिक है। व्यवहारिक दृष्टि से वही ब्रह्म सगुण साकार रूप में प्रतीत होता है। शंकर के अनुसार निर्गुण निराकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह अपरिभाष्य, अवर्णनीय तथा अचिन्तय सत्ता है। उपनिषदों में इसे नेति-नेति कहा गया है। इसी ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। शंकर कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म के एक लक्षण की ओर अवश्य श्रुति संकेत करती है, वह है 'सच्चिदानन्द'। सच्चिदानन्द ही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। सत् (Existence) चित् (consciousness) और आनन्द (Bless) तीनों एक ही हैं। परमसत् ब्रह्म त्रिकाला बाध्यम् अर्थात् तीनों कालों में अबाधित(अनश्वर) होता है। इसे सत्यस्य सत्यं भी कहा गया है। सत् होने के कारण ब्रह्म चित भी है। जड़ (अचित) असत् होता है। ब्रह्म अपरिवर्तनशील तथा अनश्वर है चित् स्वरूप है।

आनन्द चेतना में ही होता है। तैतिरीय उपनिषद में कहा गया है आनन्दैव ब्रह्म अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है। सच्चिदानन्द को शंकर ब्रह्म का लक्षण अवश्य कहते हैं किन्तु वे यह भी कहते हैं कि यह ब्रह्म की सर्वथा निर्दोष परिभाषा नहीं है। इसे सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म भी कहा गया है। ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से परे है। भेद तीन प्रकार के हैं- सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद। सजातीय भेद का अर्थ है एक जाति अर्थात् एक प्रकार की वस्तुओं में भेद जैसे एक गाय और दूसरी गाय में भेद, विजातीय भेद का अर्थ है एक जाती और दूसरी जाति के पदार्थों में भेद जैसे गाय और शेर में भेद। स्वगत भेद का अर्थ है एक ही वस्तु के विभिन्न अंगों में भेद। जैसे एक गाय की पूँछ और सींग में भेद। शंकर दर्शन में ब्रह्म भेदानाम परे है। ब्रह्म अज्ञेय है। ब्रह्म का केवल नकारात्मक वर्णन सम्भव है अर्थात् हम यह तो बता सकते हैं कि ब्रह्म क्या नहीं है किन्तु यह नहीं बता सकते हैं कि ब्रह्म क्या है। शंकर ब्रह्म को नितान्त अज्ञेय नहीं मानते। वस्तुतः जब वे ब्रह्म को अज्ञेय कहते हैं तो इसका अर्थ है कि उसे हम अपनी इन्द्रियों तथा बुद्धि के द्वारा नहीं जान सकते। तर्क के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। न वाणी के द्वारा वर्णन कर सकते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हम किसी तरह से उसे जान ही नहीं सकते। हम उसे अपरोक्षानुभूति वस्तुतः आत्मज्ञान के द्वारा सम्भव है। अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। शंकर ब्रह्म ज्ञान हेतु श्रुति प्रमाण के साथ ही साथ अनुभव को भी महत्व देते हैं। ब्रह्म जिज्ञासा में अनुभूति भी होती है। उपनिषदों के महावाक्य 'अहं ब्रह्मस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) तत्त्वमसि (वह ब्रह्म तु ही है) शंकर कहते हैं कि ब्रह्म के समान आत्मा भी सच्चिदानन्द स्वरूप है। शंकर के दर्शन में आत्मा और ब्रह्म एक ही है। ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म के समान ही सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है तब उसे किसी भी प्रकार के कष्ट कैसे सता सकते हैं। उपनिषदें भी कहती हैं " ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्मानी ब्रह्म ही हो जाता है।

शंकर कहते हैं कि "द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्भते एक मपि ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म दो रूपों में जाना जाता है यद्यपि एक ही है। सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है जगत की उत्पत्ति पालन और संहारकर्ता होना। यही भक्तों का अपास्या भी है। इसकी व्यवहारिक सता है। ईश्वर जगत का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। ईश्वर जगत में है तथा उससे परे भी है। वह सर्वज्ञ पूर्ण मायाधीश लेकिन माया से अप्रभावित है। कर्मफल दाता होने के कारण श्रद्धा, भक्ति और ध्यान का केन्द्र है। शंकर के अनुसार सृष्टि ब्रह्म का एक खेल है, उसकी लीला है। शंकर का स्पष्ट मत है सगुण और निर्गुण ब्रह्म के दो अलग-अलग अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म तो वस्तुतः एक ही

है-निर्गुण ब्रह्म। उसका सगुण रूप वास्तविक नहीं है। शंकर अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं। मान लीजिए एक चरवाहा रंगमंच पर राजा का अभिनय करता है। यहां राजा होना चरवाहे का वास्तविक स्वरूप नहीं है उसका वास्तविक स्वरूप तो उसका चरवाहा होना ही है। इसलिए ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप तो निर्गुण ब्रह्म ही है, सगुण ब्रह्म उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है।

न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण एवं इसके प्रकारों की व्याख्या करें।

प्रत्यक्ष- प्रमाण प्रमाणों में प्रथम है और अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इस प्रमाण को सभी आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन स्वीकार करते हैं। यह अन्य सभी प्रमाणों का आधार है और इस प्रमाण की परीक्षा के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। प्रत्यक्ष शब्द दो शब्दों से बना है- प्रति+अक्ष। 'प्रति' का अर्थ होता है 'सामने' और अक्ष का अर्थ है 'आँख'। अतः प्रत्यक्ष का शब्दिक अर्थ होता है ' आँख के सामने' अर्थात् आँखों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाये वह प्रत्यक्ष है। किन्तु प्रत्यक्ष केवल आँख के द्वारा प्राप्त नहीं होता, अन्य इन्द्रियों जैसे कान, नाक, जिहवा, त्वचा, मन आदि के द्वारा प्राप्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष में ही आता है। इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ तथा सभी इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष का साधन हुईं। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष हेतु इन्द्रियों का वस्तुओं से संयोग भी आवश्यक माना गया है।

'प्रत्यक्ष' को परिभाषित करते हुए महर्षि गौतम कहते हैं " इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष (समीपता) से उत्पन्न ऐसा ज्ञान, जो भाषा पर आधारित न हो जो भ्रमक न हो तथा जो अनिश्चित न हो, वह प्रत्यक्ष है।" प्रसिद्ध दार्शनिक वात्सायन का कहना है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) की समीपता तो आवश्यक है ही, पर प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कीसही विधि है- वस्तु का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से, मन का आत्मा से सन्निकर्ष। नैयायिक अधोत्तर के अनुसार यहां सन्निकर्ष का मतलब निकट सम्पर्क (समीपता) मात्र नहीं है, यहां सन्निकर्ष का मतलब इन्द्रिय के साथ वस्तु का एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाना है।

नव्य न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा गया है (गंगेश उपाध्याय) 'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वम् लक्षणं' प्रत्यक्ष का लक्षण साक्षात् प्रतीति है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष केवल वही नहीं होता जहाँ इन्द्रिय और वस्त्र में सन्निकर्ष हो प्रत्यक्ष इसके बिना भी सम्भव है जैसे योगियों को बिना इन्द्रियों के सन्निकर्ष के भी कई वस्तुओं की साक्षात् प्रतीति होती है। अतः प्रत्यक्ष में प्रमुख चीज है, साक्षात् प्रतीति।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष के अनेक प्रकार बताये गये हैं। मोटे तौर पर प्रत्यक्ष के दो भेद हैं-

1. लौकिक प्रत्यक्ष 2. अलौकिक प्रत्यक्ष

1. **लौकिक प्रत्यक्ष :-** इन्द्रियों का वस्तु से सम्पर्क होने पर जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है वह लौकिक प्रत्यक्ष है।

2. **अलौकिक प्रत्यक्ष:-** जब बिना इन्द्रियों के सम्पर्क के ज्ञाता को वस्तु का ज्ञान होता है उसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

लौकिक प्रत्यक्ष के भेद:- लौकिक प्रत्यक्ष के दो दृष्टिकोण से भेद किये गये हैं-

प्रथम दृष्टि से भेद- प्रथम दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- 1. ब्रह्म प्रत्यक्ष 2. मानस प्रत्यक्ष

1. ब्रह्म प्रत्यक्ष- पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मिलने वाला ब्रह्म वस्तुओं का ज्ञान ब्रह्म प्रत्यक्ष है। ब्रह्म प्रत्यक्ष के पांच भेद हैं-

1. चाक्षुस प्रत्यक्ष- जो आँखों से देखकर होता है।
2. श्रोत प्रत्यक्ष- जो कानों से सुनकर होता है।
3. घ्राणज प्रत्यक्ष:- जो नाक से सुँघकर होता है।
4. स्पर्शज प्रत्यक्ष:- जो त्वचा से छूकर होता है।
5. रासन प्रत्यक्ष:- जो जीभ से चखकर होता है।

2. मानस प्रत्यक्ष:- न्याय दर्शन के अनुसार उपरोक्त पंच ज्ञानेन्द्रियों के अलावा हमारी एक आन्तरिक इन्द्रिय 'मन' भी होती है। इस मन के द्वारा ही हमें सुख, दुःख, प्रेम, घृणा आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसे आन्तरिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

द्वितीय दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद किये गये हैं।

1. **निर्विकल्प प्रत्यक्ष:-** वस्तुतः यह प्रत्यक्ष की प्रारम्भिक अवस्था है। इसमें हम वस्तु का प्रत्यक्ष तो करते हैं पर स्पष्टतः समझ नहीं पाते कि वस्तु क्या है, जैसे हमने दूर से किसी को आते देखा, पर समझ नहीं पाए कि कौन आ रहा है।

2. **सविकल्प प्रत्यक्ष:-** प्रत्यक्ष की इस दूसरी अवस्था में हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष में अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त संवेदन में अर्थ भी जोड़ देते हैं और स्पष्टतः जान लेते हैं कि अमुक वस्तु यह भी है।

3. **प्रत्यभिज्ञा-** 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ है पहचानना। कई बार प्रत्यक्षीकरण में हमें वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ ही साथ यह ज्ञान भी होता है कि हमने इसे पहले भी देखा है, तो यह प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं को 'पूर्व संस्कार' के द्वारा पहचाना जाता है। इसमें वर्तमान और भूत दोनों का समन्वय होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद होते हैं:-

1. सामान्य लक्षणा प्रत्यक्ष
2. ज्ञान लक्षणा प्रत्यक्ष
3. योगज प्रत्यक्ष

सामान्य लक्षणा प्रत्यक्ष:- इससे तात्पर्य उस प्रत्यक्ष से है जिसमें हम वस्तु विशेष को देखकर उसकी 'जाति' (सामान्य) का भी प्रत्यक्ष करते हैं जैसे किसी मनुष्य को देखकर यह ज्ञान होना कि यह मनुष्य जाति का प्राणी है। इसे अलौकिक प्रत्यक्ष इसलिए कहा गया क्योंकि इसमें 'मनुष्य जाति' के साथ हमारी किसी इन्द्रिय का सम्पर्क नहीं होता है।

ज्ञान लक्षणा प्रत्यक्षः- सामान्यतया हमारी ज्ञानेन्द्रियां हमें वस्तु के विशिष्ट गुणों से परिचित कराती हैं, जैसे नाक से हमें वस्तु की गंध का ज्ञान होता है, कान से वस्तु की ध्वनि का ज्ञान होता है, त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है, आदि। यह लौकिक प्रत्यक्ष है। किन्तु कभी-कभी हम किसी इन्द्रिय से वस्तु के ऐसे भी गुण ग्रहण करते हैं जो सामान्यता उस इन्द्रिय के द्वारा नहीं ग्रहण किये जाते- जैसे आग गरम है यह प्रत्यक्ष ज्ञान बिना आग को छुए उसे आँखों से देखने मात्र से हो जाता है। यही ज्ञान लक्षणा प्रत्यक्ष है।

योगज प्रत्यक्षः- योग सिद्धि के द्वारा योगियों का होने वाला 'योगज प्रत्यक्ष' भी एक तरह का अलौकिक प्रत्यक्ष है। इसमें योगी अपने योगाभ्यास से कुछ ऐसी शक्ति पा लेता है कि भूत तथा भविष्य की, दूरस्थ तथा निकटस्थ की, अति-सूक्ष्म अथवा अति-गुढ़ अर्थात् किसी भी प्रकार की कहीं भी स्थित तथा कभी भी स्थित वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करता है। सामान्य मनुष्य को यह प्रत्यक्ष नहीं होता।